

आयुर्वेद के 'अष्टांग' उपचार प्रविधि

पीयूष मणि त्रिपाठी¹ प्रो० के०एच०एच०वी०एस०एस० नरसिम्हा मूर्ति² डॉ० रामानन्द तिवारी³

¹शोधार्थी, काय चिकित्सा विभाग, आयुर्वेद संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

²पूर्व विभागाध्यक्ष, काय चिकित्सा विभाग, आयुर्वेद संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

³एसोसिएट प्रोफेसर, विकृति विज्ञान विभाग, आयुर्वेद संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

Corresponding Author Email: tripathi.piyush5@gmail.com

आयुर्वेद भारत का प्रमुख विश्वसनीय व प्रायोगिक तंत्र है। आयुर्वेद का रचनाकाल ईसा पूर्व 3000 से 50,000 वर्ष पहले यानि सृष्टि की उत्पत्ति के आस-पास या साथ का ही है।¹

आयुर्वेद के ऐतिहासिक ज्ञान के सन्दर्भ में सर्वप्रथम ज्ञान का उल्लेख, चरक मत के आत्रेय सम्प्रदाय के अनुसार मृत्युलोक में आयुर्वेद के अवतरण के साथ अग्निवेश का नामोल्लेख है। सर्वप्रथम ब्रह्मा से प्रजापति ने, प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने, उनसे इन्द्र ने और इन्द्र से भारद्वाज ने आयुर्वेद का अध्ययन किया। च्यवन ऋषि का कार्यकाल भी अश्विनी कुमारों का समकालीन माना गया है। आयुर्वेद के विकास में ऋषि च्यवन का अतिमहत्त्वपूर्ण योगदान है।

सुश्रुत के अनुसार काशीराज दिवोदास के रूप में अवतरित भगवान धन्वन्तरि के पास अन्य महर्षियों के साथ सुश्रुत जब आयुर्वेद का अध्ययन करने हेतु गये और उनसे निवेदन किया। उस समय भगवान धन्वन्तरि ने उन लोगों को उपदेश देते हुए कहा कि 'सर्वप्रथम स्वयं ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पादन पूर्व ही अथर्ववेद के उपवेद आयुर्वेद को एक सहस्र अध्याय— शत सहस्र श्लोकों में प्रकाशित किया और पुनः मनुष्य को अल्पमेधावी समझकर इसे आठ अंगों में विभक्त कर दिया।'²

आयुर्वेद के आठ अंग

सुश्रुतसंहिता (सू० 1/6) में यह उल्लेख है कि ब्रह्मा ने मनुष्य की सृष्टि के पहले ही आयुर्वेद का एक ग्रन्थ बनाया, जिसमें एक लाख श्लोक और एक हजार अध्याय थे।³

ब्रह्मा ने मनुष्यों की आयु तथा बुद्धि की अल्पता का विचार कर आयुर्वेद को आठ अंगों में विभक्त कर दिया— जैसे—

(1) शल्य, (2) शालाक्य, (3) कायचिकित्सा, (4) भूतविद्या, (5) कौमारभृत्य, (6) अगदतन्त्र (7) रसायन—तन्त्र और (8) वाजीकरण।

(1) शल्य— विभिन्न प्रकार के घास, लकड़ी, पत्थर, धूलिकण, धातु (लोहा आदि), मिट्टी, हड्डी, केश, नख, पूय, आश्राव, मूढगर्भ आदि शारीरिक तथा आगन्तुक शल्यों के निकालने के लिए यंत्र, शस्त्र क्षारकर्म, अग्निकर्म के प्रयोग के लिए विविध प्रकार के वर्णों का विनिश्चय करने के लिए यह शल्य नामक आयुर्वेदाङ्ग प्रवृत्त होता है। इसे ही 'शल्यतन्त्र' कहते हैं। शल्यतन्त्र को पाश्चात्य चिकित्सा—विज्ञान में सर्जरी (Surgery) कहते हैं।

आयुर्वेद के आठों अंगों में यह प्रथम और प्रधान है क्योंकि शारीरिक रोग उत्पन्न होने के पूर्व देव—दानवों के युद्ध में प्रहारजन्य वर्णों के रोपण करने और यज्ञ के कटे हुए शिर को धड़ के साथ जोड़ देने के कारण शल्य ही प्रथम अंग है। सभी आयुर्वेदाङ्गों में समान रूप से आवश्यक होने से यंत्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि के व्यवहार के कारण तथा शल्यक्रिया करने से शीघ्र आराम पहुँचने के कारण 'शल्य' सभी अंगों से अधिक वांछनीय है।

वैदिक वाङ्मय में शल्य⁴— सबसे प्राचीन वाङ्मय ऋग्वेद में भी शल्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अश्विनीकुमारों ने सन्धानकर्म (Plastic Surgery) और अंगप्रत्यारोपण (Transplantation) का कार्य किया था। 'दास' द्वारा 'दीर्घतमम' ऋषि के सिर और छाती को काट दिये जाने पर अश्विनीकुमारों ने उसके अंगों का संधान किया था। युद्ध में रवेल राजा की पत्नी विश्पला की टांग काट दिये जाने पर उसे लोहे की जंघा लगाकर जोड़ दिया गया। उपनिषद् में वर्णित 'मधु-विद्या' सन्धान-कर्म था, जिसे अश्विनीकुमारों ने दधीचि से प्राप्त किया था। कटे सिर को जोड़ने की विद्या 'प्रवर्ग्य-विद्या' कहलाती थी। अश्विनीकुमारों ने दधीचि ऋषि के सिर को 'धड़' से अलग करके उसकी जगह घोड़े का सिर लगाकर उसके द्वारा मधुविद्या (प्राणविद्या) ग्रहण कर पुनः मनुष्य का पहला सिर जोड़ दिया।

कौशिकसूत्र में शस्त्र से अभिघात के कारण अस्थिभंग का रक्त निकलने पर लाक्षा क्वाथ में सेंक और लाक्षा डालकर पकाये हुये दुग्धपान का विधान है।

बाल्मीकिरामायण में इन्द्र के अण्डकोश के गिर जाने पर भेद के अण्डकोष के प्रत्यारोपण का उल्लेख है।⁵ महाभारत में भी शल्य निकालने में दक्ष वैद्यों का संकेत है— उपातिष्ठयतो वैद्या शल्यथोद्धरणको विदाः।⁶

(2) शालाक्य— कर्ण, नेत्र, मुख, नासिका आदि जन्तु के ऊपर के अंगों से उत्पन्न हुए रोगों की शान्ति के लिए तथा शलाका-यन्त्र के प्रयोग के लिए जो आयुर्वेदाङ्ग होता है, उसे 'शलाक्यतन्त्र' कहते हैं।

'शलाका पटलवेधनी, तस्याः कर्म शालाक्यं तत्प्रधानं तन्त्र. शालाक्यतन्त्रम्।'⁷

ऋग्वेद में अश्विनीकुमारों द्वारा शालाक्य विषयक चमत्कारों के किये जाने का उल्लेख है। वे अन्धे ऋजाश्व को दृष्टिदान दिये। अन्धे कण्व को दृष्टि दिये। बहरे नार्षद को श्रवणशक्ति दिये। इन्द्र ने अन्धे परावृज को दृष्टिदान दिया।

शालाक्य-तन्त्र का प्रमुख ग्रंथ 'सुश्रुतसंहिता' है, जिसके उत्तरतन्त्र के अध्याय 1 में 19 तक नेत्ररोग का, 20 तथा 21 में कर्णरोग का, 22 में 24 तक नासिकारोग का और 25-26 में शिरोरोग का वर्णन है।⁸

(3) कायचिकित्सा— आयुर्वेद के सभी अङ्गों में 'कायचिकित्सा' का प्रमुख स्थान है। अतिप्राचीन काल से वर्तमानकाल तक आयुर्वेद के सम्मान और प्रतिष्ठा का कारण आयुर्वेदीय 'कायचिकित्सा' है।

'ऋग्वेद' में अश्विनीकुमारों की चिकित्सा के अनेक चमत्कारपूर्ण उदाहरण मिलते हैं। जीर्णशीर्ण 'च्यवन' तथा 'वन्दन' ऋषि की चिकित्सा कर अश्विनीकुमारों ने उन्हें यौवन दिया। कक्षीवती की पुत्री 'घोषा' को कुष्ठरोग से मुक्त किया। कुष्ठ रोग ने कृष्ण वर्ण शरीर वाले 'श्याव' का कुष्ठ दूर किया। ऋग्वेद में सूर्यरश्मि द्वारा हृदय रोग की चिकित्सा का वर्णन है। 'अपाला' का चर्मरोग तथा उसके पिता का गंजापन अश्विनीकुमारों ने दूर किया। राजयक्ष्मा आदि का भी ऋग्वेद में वर्णन है।

शरीर को दोष-धातु और मल का एक संगठन कहा गया है— 'दोषधातुमलं मूलं हि शरीरम्। जब शरीर में दोष, धातु और मलों की क्रिया निर्बाध रूप से अपने स्वाभाविक ढंग से होती रहती है, तब शरीर नीरोग रहता है।

इसी दृष्टिकोण से आयुर्वेद के दो प्रयोजन कहे गये हैं— (1) स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना और (2) रुग्ण व्यक्ति के रोग को दूर करना।

आयुर्वेदशास्त्र में स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को यथावत् कायम रखने के लिए दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या आदि के नियम, सदाचार, आहार-विहार आदि सभी छोटे-मोटे प्रसङ्गों को महत्त्वपूर्ण ढंग से बतलाया गया है और उनके पालन में सदैव सावधानी बरतने का बार-बार निर्देश दिया गया है। जिस प्रकार राजा अपने राज्य की अन्तःबाह्य

स्थितियों को सम्हाल कर राज्य का परिपालन सावधानी ने करता है उसी तरह शरीर की रक्षा करनी चाहिए— 'नगरी नगरस्येव, रथस्येव रथी यथा। स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्।'⁹

काय-चिकित्सा की परिभाषा— शरीर के सर्वाङ्ग में होने वाले ज्वर—रक्तपित्त—शोषोन्मादापस्मारकुष्ठातिसारादीनामुपशमनार्थम्।¹⁰

काय-चिकित्सा की शाब्दिक व्युत्पत्ति— 'कायः सकलं शरीरं तस्य चिकित्सा कायचिकित्सा। काय का अर्थ है— सम्पूर्ण शरीर, अतः सम्पूर्ण शरीरगत रोगों की चिकित्सा को 'कायचिकित्सा' कहते हैं।

'कायचिकित्सा' शब्द दो शब्दों के योग से बना हुआ है— काय + चिकित्सा। इसलिए इन दोनों शब्दों का अलग-अलग शब्दार्थ जानने पर ही सम्पूर्ण 'कायचिकित्सा' शब्द के यथार्थ अर्थ का बोध हो सकता है। अतः काय और चिकित्सा शब्द का निर्वचन किया जा रहा है।

काय— जो शब्द करे, उसे काय कहते हैं— 'कायति शब्दायते इति कायः'। कान को अंगुली बन्द करने पर एक ध्वनि सुनाई देती है। यह ध्वनि जीवित शरीर का चिह्न है और इस जीवित शरीर की चिकित्सा करना ही आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन है।

इसका तात्पर्य यह है कि हृदय की गति का नियमन करना ही कायचिकित्सा है, क्योंकि 'कायति शब्दं करोति'¹¹ इस व्युत्पत्ति से काय का अर्थ हृदय है और उसकी चिकित्सा करना ही सर्वाधिक मूल्यवान् पक्ष है, अतः किसी भी रोग के होने पर हृदय को गति का यथावत् संचालन वाञ्छनीय कर्तव्य होता है।

काय का दूसरा अर्थ है— शरीर या देह। जिसका अन्नादि आहार से पोषण होता है, उसे काय कहते हैं— 'वीयतेऽन्नादिभिः'¹² इति कायः। 'चिञ्चयने' धातु से काय शब्द बना है। देह शब्द 'दिह वर्धने' धातु से बना है। प्रतिक्षण क्षीयमाण शरीर की अन्नादि आहार से पुष्टि होती है, अतः इसे 'काय' कहते हैं। एवञ्च क्षीयमाण शरीर परमाणुओं का अन्नादि से पोषण होकर वृद्धि होती है, अतः यह 'देह' कहलाता है। इन प्रकार के शरीर की चिकित्सा कायचिकित्सा है।

काय का तीसरा अर्थ है— जाठराग्नि। मधुकोष टीका में 'भोज' का बचन उद्धृत किया गया है, जिसमें कहा गया है कि जीवित प्राणियों की जाठराग्नि को 'काय' कहते हैं। इस अग्नि के विकृत हो जाने पर उसको प्राकृतिक स्थिति में लाने के लिए जो उपचार किया जाता है, उस उपचार को 'कायचिकित्सा' कहते हैं और उपचार करने वाले वैद्य को कायचिकित्सक कहते हैं—

'जाठरः प्राणिनायग्निः काय इत्यभिधीयते।

यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः।'¹³

शरीर में तेरह प्रकार की अग्नियाँ होती हैं— एक जाठराग्नि, सात धात्वग्नि और पञ्च महाभूताग्नि। इनमें जाठराग्नि ही प्रधान है, क्योंकि जाठराग्नि से ही अन्य अग्नियों को बल मिलता है। इस प्रकार इन अग्नियों के समस्त विकारों (अवस्थापाक सम्बन्धी या धातुपाक सम्बन्ध विकार) की चिकित्सा को कायचिकित्सा कहते हैं।

'अग्नि' के शान्त हो जाने पर मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और अग्नि की विकृति होने पर मनुष्य नाना प्रकार के रोगों से आक्रान्त हो जाता है। जिस मनुष्य की अग्नि ठीक रहती है, वह बिना किसी रोग से आक्रान्त हुए दीर्घ काल तक जीवित रहता है—

‘शान्तेऽग्नौ प्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।

रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते।।’¹⁴

जाठराग्नि की इस प्रतिष्ठा के कारण उसकी चिकित्सा करने वाले अंग का चिकित्सा का आठों अंगों में प्रधान स्थान माना गया है।

चिकित्सा— ‘कित् रोगापनयने’ धातु से चिकित्सा शब्द बना है। रोग के उपनयन (दूर करना) को चिकित्सा कहते हैं। रोग के प्रतिकार, निग्रह या नाम को चिकित्सा कहते हैं— ‘चिकित्सा रुक्प्रतिक्रिया’। व्याधि को दूर करने के लिए ही प्रक्रिया की जाती है वह चिकित्सा है—

‘या क्रिया व्याधिहरणी सा चिकित्सा निगद्यते’।¹⁵

चिकित्सा के पर्याय— क्रिया, कर्म, प्रतिकर्म, वैद्यकर्म, भिषक्कर्म, मिथकीय प्रतिषेध, प्रतिकार, प्रशमन, शमन, रोगपनयन, व्याधिहर, प्रायश्चित्त, चिकित्सा पध्य, साधन, औषध, प्रकृतिस्थापन, निग्रह, उपक्रम और उपचार।

चिकित्सा की परिभाषा— वैद्य, औषध, परिचारक और रोगी—ये चारों बल अपने उत्तम गुणों से युक्त होकर, धातु वैषम्य होने पर, उस धातुवैषम्य को दूर कर एवं धातुयास्य की स्थितिलाने के लिए प्रवृत्त होते हैं, उस प्रवृत्ति को चिकित्सा कहते हैं—

‘चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातु वैकृते।

प्रवृत्तिर्धातुसाम्यायां चिकित्सेत्यभिधीयते।।’¹⁶

धातुओं की विकृति या वैषम्य ही रोग है। रोगावस्था में विषम हुए रोग की धातुओं को साम्यावस्था में लाने के लिए की जाने वाली क्रिया चिकित्सा कहलाती है—

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः यथाः।

या चिकित्सा विकाराणां कर्म तदिभषजां स्मृतम्।।’¹⁷

चिकित्सा के प्रकार —

कायचिकित्सा के प्रमुख ग्रन्थ चरकसंहिता (चिकित्सा 1/1) में चिकित्सा के दो प्रकार बतलाये गये हैं— स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को अधिक प्रशस्त (ऊर्जस्कर) बनाने वाला और रुग्ण व्यक्ति के रोग को दूर करने वाला (आर्तस्य रोगनुत्)। प्रथम प्रकार प्रतिषेधक चिकित्सा है, इसमें स्वास्थ्य विज्ञान या स्वस्थवृत्त के नियम आते हैं। शरीर के सभी कार्य निर्बाध रूप से अपने प्राकृतिक ढंग से होते रहें, एतदर्थ स्वस्थहित आहार—विहार का पालन अनिवार्य है। स्वस्थ आहार—विहार का सेवन हमें स्वस्थ तथा रोगरोधक शक्ति (Immunity) सम्पन्न बनाता है।

स्वस्थ ऊर्जस्कर के भी दो प्रकार होते हैं— (क) रसायन तथा (ख) वाजीकरण। शरीर की रस—रक्तादि धातुओं की प्रशस्ततापूर्वक प्राप्ति के उपाय को ‘रसायन’ कहते हैं ‘लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्’¹⁸। शरीर में धातुओं की पुष्टि और समृद्धि से दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। च्यवन आदि ऋषियों ने ‘रसायन’ के प्रयाग से यौवनावस्था तथा दीर्घायुष्य प्राप्त किया था। आज भी उचित विधि से रसायन का प्रयोग करने पर कुछ अंश तक बुद्धि, स्मृति एवं आयु की वृद्धि के उदाहरण सुलभ होते हैं।

वाजीकरण— यह वह प्रक्रिया है, जिसके प्रयोग से अल्पवीर्य, दुष्टवीर्य, क्षीणवीर्य, मैथुनासमर्थ एवं सन्तानहीन पुरुषों को वीर्यसम्पन्न, पौरुषशक्तिसंपन्न, प्रहर्षयुक्त तथा सन्तानोत्पत्ति में समर्थ बनाया जाता है। इसमें शुक्रवर्धक, कामोत्तेजक, प्रहर्ष-जनक तथा शुक्ररेचक आहार-विहार तथा औषधों का सेवन कराया जाता है।¹⁹

इस प्रकार चिकित्सा के प्रथम पक्ष 'स्वस्थ ऊर्जस्कर' के दो भेदों का संक्षिप्त परिचय दिया गया।

चिकित्सा का दूसरा प्रकार रुग्ण व्यक्ति के रोग को दूर करना है। इसके तीन भेद हैं—²⁰ (1) दैवव्यपाश्रय (2) युक्तिव्यपाश्रय और (3) सत्त्वावजय।

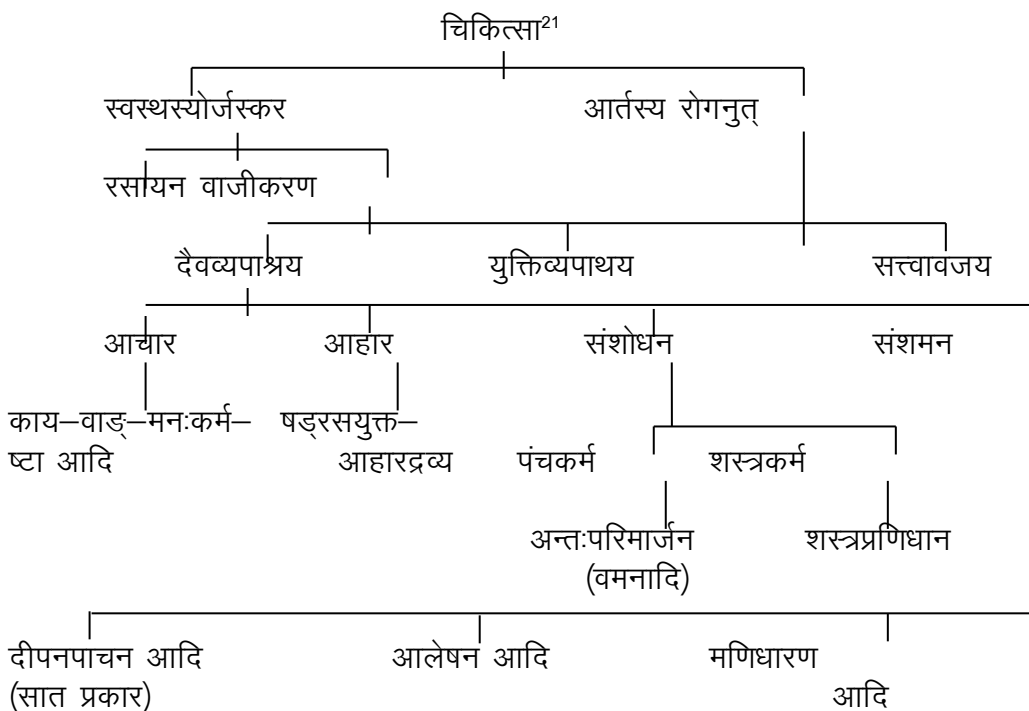
1. 'दैवव्यपाश्रय' चिकित्सा में रोगों को दूर करने के लिए मणियों का कन्धन, बलि, उपहार, मन्त्रजप और हवन आदि का विधान है।
2. 'युक्तिव्यपाश्रय' में रोगी को प्रकृति, दोष, दूष्य, बल, काल आदि का विचार कर औषध प्रयोग तथा आहार-विहार की समुचित योजना से रोग का उन्मूलन किया जाता है।
3. 'सत्त्वावजय' में मन को अहितकर विषयों में प्रवृत्त होने से रोका जाता है और ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, आश्वासन आदि के द्वारा मनोबल को बढ़ाया जाता है एवं सत्त्वगुण को बढ़ाने का उपाय किया जाता है।

पुनः युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा के तीन उपभेद होते हैं—

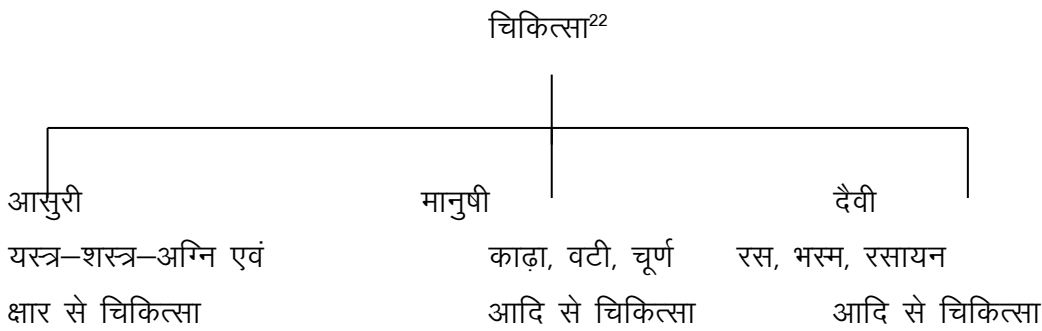
(1) अन्तः-परिमार्जन (2) वहिः-परिमार्जन और (3) शस्त्र-प्रणिधान। सुश्रुताचार्य ने युक्तिव्यपाश्रय के निम्न भेद किये हैं—

(1) संशोधन (2) संशमन (3) आहार और (4) आचार।

इन सभी भेदों को अधोनिर्दिष्ट सारणी द्वारा स्पष्ट किया जाता है—



कर्म के आधार पर चिकित्सा के तीन भेद—



(4) **भूतविद्या**— आयुर्वेद का यह अंग सर्वाधिक उपेक्षित अंग है। इस विषय का स्वतन्त्र कोई प्राचीन प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

परिभाषा— देवता, पितृ, पिशाच तथा ग्रह आदि के आक्रमण से पीड़ित व्यक्तियों के कष्ट को दूर करने के लिए, उन देव आदि के लिए बलि उपहार, पूजा आदि के विधान के द्वारा रोग-शान्ति का उपचार जिस अंग द्वारा किया जाता है, उसे 'भूत-विद्या' कहते हैं।

आयुर्वेद में भूतोन्माद, अमानुषोपसर्ग तथा बालग्रहों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, वे सब रोग तथा मानसरोग अपस्मार आदि भूतविद्या के अन्तर्गत आते हैं—

‘उन्माद प्रतिषेधश्च तथाऽपस्मारिको गदः।

अमानुषनिषेधश्च भूतविद्या निरुच्यते।।’²³

भूतविद्या के विषय अथर्ववेद में भरे पड़े हैं। गुरु, सिद्ध, ऋषि, देवता, भूत-प्रेत, राक्षस, पिशाच एवं स्कन्द, रेवती आदि ग्रहों के तिरस्कार करने पर उन्माद, अपस्मार आदि मानसरोग तथा अनेक प्रकार के शारीरिक रोग होते हैं। ऐसे रोगों के उपचार के लिए आक्रमक देवता, राक्षस या ग्रह आदि के अनुरूप बलि, पूजा, होम तप जप आदि किये जाने पर रोग से मुक्ति मिलती है।

संहिता ग्रंथों में बीजरूप में भूत-विद्या है, जैसे— सुश्रुतसंहिता में स्वरतन्त्र अमानुषप्रतिषेधाध्याय। चरकसंहिता में उन्माद-चिकित्सा एवं बाग्भट में भूतविज्ञानीय एवं भूतप्रतिषेधाध्यायः।

(5) **कौमारभृत्य**— इम आयुर्वेदाङ्ग में कुमार (बालक) के भरण-पोषण की व्यवस्था, धात्री-परीक्षा, दुष्ट दुग्ध-विशोधन, ग्रहजन्य रोगों का प्रतीकार तथा बालकों के रोगो चिकित्सा का विधान किया जाता है—

‘कौमारभृत्यं नाम-कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रह-समुत्थानाञ्च व्याधीनामुपशमनार्थम्’।²⁴

काश्यपसंहिता के शिष्योपक्रमणीय अध्याय में कौमारभृत्य को आठों अङ्गों में प्रथम कहा गया है— ‘कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते।’²⁵

बालक ही भविष्य में किमी देश का नागरिक बनता है और उसकी बाल्यावस्था के स्वास्थ्य का जीवन भर प्रभाव रहता है। अतः बालक की देखरेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्तव्य है।

आयु के अनुसार बालक तीन प्रकार के होते हैं— 1. क्षीरप (दूध पीने वाले), 2. धीरान्नाद (दूध और अन्न खाने वाले) और 3. अन्नाद (केवल अन्न पर निर्भर रहने वाले)। बालक के जन्म होने के साथ ही उसका उपचार शुरू हो जाता है। उसके कुछ संस्कार किये जाते हैं। उसके पेय-लेह्य की व्यवस्था की जाती है। उसकी रक्षा के लिए विशेष ध्यान दिया जाता है।

(6) अगदतन्त्र— यह सुश्रुत की दी हुई संज्ञा है। चरक ने इसे 'विषगरवैरोधिक-प्रशमन' कहा है। अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय में इसका नाम 'दंष्ट्राचिकित्सा' है।²⁶

सर्प, कीट, लता आदि से डँसे हुए, अनेक प्रकार के स्वाभाविक, कृत्रिम और संयोग विष से ग्रस्त मनुष्यों के निदान तथा चिकित्सा के लिए जो अङ्ग होता है, उसे 'अगद-तन्त्र' कहते हैं— 'अगदतन्त्रं नाम-सर्पकीटलूतामूषिकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं विविध-विषसंयोगोपशमनार्थं च'²⁷ — सुश्रुत।

सम्प्रति न्यायवैद्यक या व्यवहारायुर्वेद नामक एक उपाङ्ग अगदतन्त्र के साथ जुट गया है, जिसमें आकस्मिक रूप से अग्निदाह, जल में डूबने, विष खा लेने, फाँसी लगाने, गला दबाने या सांघातिक मर्मस्थान पर आघात आदि तथा अनैतिक मैथुन-कर्म आदि की समीक्षा न्यायिक दृष्टि से की जाती है। उन्माद रोग या संक्रामक रोग के परीक्षण की रिपोर्ट देनी होती है। आयुमृतक की परीक्षा की जाती है। कानून के पहलू से विभिन्न अपमृत्युओं की जाँच-पड़ताल कर साक्ष्य के आधार पर अभियुक्त पर कानून के उल्लंघन का आरोप सिद्ध किया जाता है। यह विषय आधुनिक ग्रन्थों के अनुवाद से आयुर्वेद में संग्रहीत कर अगदतन्त्र के साथ जोड़ दिया गया है। इसकी पुस्तकें अगदतन्त्र के साथ ही संलग्न हैं।

(7) रसायनतन्त्र— रसायन में औषध, आहार और विहार तीनों ही प्रकार हैं। जिन औषध द्रव्यों के सेवन से शरीर में उत्तम रस-रक्तादि धातुओं की उपलब्धि होती है, वे रसायन कहे जाते हैं—

'लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्'।²⁸

दीर्घकाल तक तारुण्यावस्था स्थापन करने के लिए आयु, बल तथा बुद्धि की वृद्धि के लिए एवं शरीर में रोगप्रतिरोधक शक्ति बढ़ाने के लिए जो आयुर्वेदाङ्ग है, उसे 'रसायनतन्त्र' कहते हैं—

'रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मधावलकरं रोगापहरणसमर्थं च'²⁹ सु०सू० 1 जिससे जरावस्था (वार्द्धक्य) एवं व्याधि का नाश हो, यह रसायन है— **'रसायनञ्च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम्'**।³⁰ —शाङ्गधर

रसायन औषधों का प्रयोग केवल स्वास्थ्यवर्धन में ही नहीं, अपितु अनेक रोगों की चिकित्सा में भी किया जाता है। इनके उपयोग से शरीर में क्षमता (Immunity) या रोगप्रतिरोधकता (Resistance) बढ़ती है। रसायन के विधिवत् प्रयोग से दीर्घ आयु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, यौवन, प्रभा, वर्ण और स्वर को उत्तमता, शरीर में बल, वाक्सिद्धि तथा लोक में सम्मान प्राप्त होता है। रसायन के प्रयोग से च्यवन ऋषि ने पुनः यौवनावस्था प्राप्त की।

'अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा'।³¹

वृद्धावस्था को दूर कर यौवनावस्था लाना और रोग को दूर करना, ये दो कार्य रसायन के हैं— 'यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद् रसायनम्'³²

रसायन का प्रभाव³³—

- (1) पोषक रस के स्तर पर (Nutrition) जैसे— शतावरी, खर्जूर, दुग्ध एवं घृत ।
- (2) अग्निवर्धक रसायन (Digestion & Metabolism) जैसे—पिप्पली ।
- (3) स्रोतोशोधक रसायन (Micro-circulation)— जैसे गुग्गुलु, रसोन, कस्तूरी आदि ।

रसायन औषधियों की कार्य—विधि³⁴—

- (क) रसादि धातुगत परिवर्तन— धातुवृद्धिजनक ।
- (ख) व्याधिक्रमत्वगत परिवर्तन— व्याधि प्रतिषेधक या निवारक ।
- (ग) अन्तःस्राव (हार्मोन) गत परिवर्तन— शक्तिदायक ।

रसायन के प्रकार³⁵—

1. प्रयोग—विधि के अनुसार—
 - (अ) कुटीप्रावेशिक ।
 - (आ) वातातपिक ।
2. चिकित्सा विधि के अनुसार—
 - (अ) काम्य (किसी विशेष कामना से)—
 - प्राणकाम्य ।
 - मेधाकाम्य ।
 - श्रीकाम्य (कान्तिवर्धनार्थ) ।
 - (आ) नैमित्तिक (किसी रोग को दूर करने के लिये)—
 - प्रमेह — शिलाजीत ।
 - कुष्ठ या अर्श — भल्लातक ।
 - मधुमेह या कुष्ठ— तुबरक ।
 - (इ) आजस्रिक (निरन्तर भोजन के रूप में) जैसे— क्षीर या घृत ।
 - (ई) आचार रसायन— तद्वृत, यम, नियम आदि । इससे मानसिक स्वास्थ्य में सुधार होता है ।

3. चरक— अभयामलकीय, प्राणकामीय, करप्रचितीय, आयुर्वेदसमुत्थानीय ।

4. सुश्रुत — सर्वोपघातशमनीय, मेधायुष्कामीय, स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीय, निवृत्त सन्तापीय ।

(8) वाजीकरण— क्षीणपौरुष, अल्पवीर्य और सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ पुरुषों को वीर्यवान्, पौरुषसम्पन्न और सन्तान के उत्पन्न करने में समर्थ बनाने वाला यह अंग है ।

‘वाजः शुक्रं सोऽस्यास्तीति वाजी ।’³⁶

अर्थात् वाज का अर्थ शुक्र या वीर्य है, अतः जिसके पास शुक्र है, वह वाजी है, तदनुसार जिसके पास शुक्र नहीं है, वह अवाजी है ।

‘अवाजी वाजी क्रियते अनेन इति वाजीकरणम् ।’³⁷

अर्थात् जिस क्रिया से अवाजी को वाजी किया जाता है, उसे वाजीकरण कहते हैं । वाजि शब्द का एक अर्थ घोड़ा होता है, तदनुसार वाजीकरण उस युक्ति या क्रिया का नाम है, जिसके द्वारा पुरुष घोड़े के समान अप्रतिहत सामर्थ्य युक्त होकर स्त्रीगमन में समर्थ होता है ।

‘वाजीकरणतन्त्रं नामात्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसाम् आप्यायनप्रसादो— पचयजनननिमित्तं प्रहर्षजननार्थम् ।’³⁸

अल्पवीर्य, दुष्टवीर्य, क्षीणवीर्य एवं शुष्कवीर्य जनों में आप्यायन (वीर्यपुष्टि), प्रसादन (वीर्यशोधन), उपचय (वीर्यवृद्धि) और शुक्रजनन (वीर्योत्पादन) करने के लिए तथा मैथुनेच्छा (प्रहर्ष) बढ़ाने के लिए जो आयुर्वेदाङ्ग है, उसे ‘वाजीकरण’ कहते हैं ।

‘वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतो स्त्रियः ।

भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां वाजीकरणमेव तत् ।।

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः ।

व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ।।’³⁹

कामशास्त्र में रहस्यात्मक गुप्त विद्या माने जाने के कारण वाजीकरण को ‘औपनिषदिक’ कहा गया है । रतिशक्ति को बढ़ाकर यौवनानन्द तथा सन्तान-परम्परा का स्थापन करना इसका लक्ष्य है । विषयी पुरुष को निरन्तर वाजीकरण औषधियों का सेवन करना चाहिए । वात्स्यायन कामसूत्र के औपनिषदिक अधिकार में विस्तार-पूर्वक वाजीकरण योगों का वर्णन है ।

सुश्रुतानुसार वाजीकरण के तीन लक्ष्य हैं⁴⁰— (1) स्त्री में प्रीति उत्पन्न करना, (2) सन्तानोत्पत्ति और (3) सद्यः कामतृप्ति ।

उपर्युक्त वर्णित आठ महत्वपूर्ण अंग भारतीय उपचार पद्धति की आठ प्रविधियाँ हैं, जो पीड़ित को उपचार में गुण-दोष के आधार पर चिकित्सक सलाह देता है और उपचार करता है ।

संदर्भ

1. शर्मा, रामप्रसाद : चिरपुरातन आयुर्वेद की गौरवमयी परम्परा : पत्रिका (गायत्री परिवार), वॉल्यूम-2, संस्करण 1998, पृ0 11
2. तदेव
3. शुक्ल, डॉ0 विद्याधर एवं त्रिपाठी, डॉ0 रविदत्त : आयुर्वेद का इतिहास एवं परिचय, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रित 2017, पृ0 237
4. सुश्रुत संहिता- 1.8.1 पर डल्हण की टीका
5. तुलसीदास : श्रीरामचरितमानस : बालकाण्ड- 49/6-10
6. महाभारत : भीष्मपर्व, 129/55
7. नागार्जुन : सुश्रुत संहिता का प्रतिसंस्करण, चन्द्र पाठ संशोधन, 10वीं शताब्दी - 1/7/2
8. तदेव
9. चरक संहिता - 5/1-3
10. सुश्रुत संहिता - 01/03
11. चरक संहिता- 01/103
12. सुश्रुत संहिता- 01/15
13. चरक चिकित्साशास्त्र- 10
14. चरक चिकित्साशास्त्र- 15
15. वैद्यकशब्दसिन्धु- 17.2
16. चरक संहिता- 01/10
17. चरक संहिता- 16/18
18. चरक संहिता- 1/1
19. नागार्जुन : सुश्रुत संहिता का प्रतिसंस्करण, चन्द्र पाठ संशोधन, 10वीं शताब्दी - 1/7/2, पृ0 37
20. तदेव, पृ0 21
21. शुक्ल, डॉ0 विद्याधर एवं त्रिपाठी, डॉ0 रविदत्त : आयुर्वेद का इतिहास एवं परिचय, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रित 2017, पृ0 248
22. तदेव, पृ0 249
23. सुश्रुत संहिता- 1/8
24. तदेव, 1
25. तदेव, 29
26. तदेव, 29
27. तदेव, 37
28. चरक संहिता- 1/1

29. शुक्ल, डॉ० विद्याधर एवं त्रिपाठी, डॉ० रविदत्त : आयुर्वेद का इतिहास एवं परिचय, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रित 2017, पृ० 259
30. तदेव, पृ० 260
31. तदेव, पृ० 260
32. अष्टांगहृदय उत्तरस्थान : रसायनाध्याय— 39/61
33. तदेव, 39/28
34. तदेव, 39/28
35. तदेव, 39/29
36. तदेव, 39/29
37. शुक्ल, डॉ० विद्याधर एवं त्रिपाठी, डॉ० रविदत्त : आयुर्वेद का इतिहास एवं परिचय, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रित 2017, पृ० 261